

जैनधर्म में अहिंसा

डॉ० श्रीरंजन सुरिदेव

पटना (बिहार)

अहिंसा जैनधर्म की आधारशिला है। जैन चिन्तकों ने अहिंसा के विषय में जितनी गम्भीर सूक्ष्मेक्षिका से विचार-विश्लेषण किया है, उतनी सूक्ष्म दृष्टि से कदाचित् ही किसी अन्य सम्प्रदाय के विचारकों ने चिन्तन किया हो। जैनों की अहिंसा का क्षेत्र बड़ा व्यापक है। उनके अनुसार अहिंसा बाह्य और आन्तरिक-दोनों रूपों में सम्भव है। बाह्य रूप से किसी जीव को मन, वचन और शरीर से किसी प्रकार की हानि या पीड़ा नहीं पहुँचाना तथा उसका दिल न दुःखाना अहिंसा है, तो आन्तरिक रूप से राग-द्वेष के परिणामों से निवृत्त होकर साम्यभाव में स्थित होना अहिंसा है। बाह्य अहिंसा व्यावहारिक अहिंसा है, तो आन्तरिक अहिंसा निश्चयात्मक अहिंसा। इस दृष्टि से व्यावहारिक रूप से जीव को आघात पहुँचाना यदि हिंसा है, तो आघात पहुँचाने का मानसिक निश्चय या संकल्प करना भी हिंसा ही है। वस्तुतः अन्तर्मन में राग-द्वेष के परिणामों से निवृत्तिपूर्वक समता की भावना जबतक नहीं आती, तब तक अहिंसा सम्भव नहीं है। इस प्रकार अतिव्यापक रूप में सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि सभी सद्गुण अहिंसा में ही समाहित हैं। कुल मिलाकर अहिंसा ही जैनधर्म की मूलधुरी है और इसीलिए जैन दार्शनिकों ने अहिंसा को परम धर्म कहा है।

व्यावहारिक दृष्टि से यदि देखें, तो जल, स्थल, आकाश आदि में सर्वत्र ही क्षुद्रातिक्षुद्र जीवों की अवस्थिति है, इसलिए बाह्य रूप में पूर्णतः अहिंसा का पालन सम्भव नहीं है; परन्तु अन्तर्मन में समता की भावना रहे और बाह्यरूप में पूर्ण यत्नाचार के पालन में प्रमाद न किया जाय, तो बाह्यजीवों की हिंसा होने पर भी सोद्देश्य हिंसा की मनःस्थिति के अभाव के कारण साधक या श्रावक मनुष्य अहिंसक बना ही रहता है।

इस प्रकार जैनों के “रत्नकरण्डभ्रावकाचार”, “कार्तिकेयानुपेक्षा” आदि आचार ग्रन्थों के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करने से स्पष्ट होता है कि अहिंसा मुख्यतः दो प्रकार की है : स्थूल अहिंसा और सूक्ष्म अहिंसा। त्रस जीवों अर्थात् अपनी रक्षा के लिए स्वयं चलने-फिरने वाले (यानी कीट-पतंग और पशु-पक्षी से मनुष्य तक) दो इन्द्रियों से पाँच इन्द्रियों तक के जलचर, थलचर और खेचर जीवों की हिंसा नहीं करनी चाहिये और अकारण एकेन्द्रिय, अर्थात् बनस्पतिकायिक जीवों की भी हिंसा यानी पेड़ों को काटना या उनकी डालियों और पत्तों को तोड़ना आदि कार्य भी नहीं करना चाहिये। यह स्थूल अहिंसाव्रत है। फिर, जो श्रावक मनुष्य जीवों के प्रति दयापूर्ण व्यवहार करता है, सभी जीवों को आत्मवत् मानता है और अपनी निन्दा करता हुआ दूसरे प्राणी को कष्ट नहीं पहुँचाता है तथा मन, वचन और शरीर से त्रस जीवों की न स्वयं हिंसा करता है, न दूसरों से कराता है और न दूसरे के द्वारा की जानेवाली हिंसा का अनुमोदन करता है, वह सूक्ष्म अहिंसा अर्थात् अहिंसाण्व्रत का पालन करने वाला कहा गया है। इस प्रकार सर्वतो-भावेन जीवों की रक्षा करना ही अहिंसा-व्रत है।

आद्य जैन चिन्तक आचार्य उमावाति ने ‘तत्त्वार्थसूत्र’ (७।४) में अहिंसाव्रत के पालन के लिए साधनस्वरूप पाँच भावनाओं का उल्लेख किया है : वचनगुप्ति, मनोगुप्ति, ईर्ष्यासमिति आदाननिक्षेपण-समिति और आलोकितपान-

भोजन । इन भावनाओं का अर्थ मोटे तौर पर लें, तो हिंसा से बचने के निमित्त वचन के व्यवहार में सतर्क रहना या प्रमाद न करना ही वचनगुति है, मन में हिंसा की भावना या संकल्प को उत्पन्न न होने देना मनोगुति है, चलने-फिरने-उठने-बैठने आदि में जीवहिंसा न हो, यानी जीव को कष्ट न पहुँचे, इसका ध्यान रखना ईर्यासमिति है, किसी वस्तु को उठाने-रखने में जीवहिंसा से बचना आदान-निक्षेपण समिति है और निरीक्षण करके भोजन-पान ग्रहण करना आलोकितपान भोजन है । इससे स्पष्ट है कि राग, द्वेष, प्रमाद आदि से सर्वथा रहित होने की स्थिति ही अहिंसात्मक स्थिति है ।

‘सर्वार्थशिद्धि’ (७/२२/३६३/१०) में कहा गया है कि मन में राग आदि का उत्पन्न होना हिंसा है और न उत्पन्न होना अहिंसा और फिर, ‘ध्वलापुस्तक’ (१४/५, ६, ९३/५/१०) के लेखक ने कहा है—जो प्रमादरहित है, वह अहिंसक है और जो प्रमादयुक्त है, वह सदा के लिए हिंसक है इसलिए धर्म को अहिंसालक्षणात्मक (‘परमात्म प्रकाश-टीका’, २/६८) कहा गया है और अहिंसा जीवों के शुद्ध भावों के बिना सम्भव नहीं है । आत्मरक्षा की दृष्टि से भी अन्य प्राणियों की अहिंसा के धर्म का पालन अत्यावश्यक है । जो आत्मरक्षक नहीं होता, वह पररक्षक क्या होगा ? ‘आत्मोपम्येन भूतेषु दया कुर्वन्ति साधवः’ जैसी नीति के समर्थक सर्वजीवदयापरायण भारतीय नीतिकारों की ‘आत्मानं सततं रक्षेत्’ की अवधारणा इसी अहिंसा-सिद्धान्त पर आश्रित है ।

‘ज्ञानार्णव’ (८/३२) में अहिंसा जगन्माता की श्रेणी में परिगणित है । इस ग्रन्थ में जगन्माता के विमल व्यक्तित्व से विमण्डित अहिंसा के विषय में कहा गया है :

अहिंसेव जगन्माताऽहिंसेवानन्दपद्धतिः ।

अहिंसेव गतिः साध्वी औरहिंसैव शाश्वती ॥

अर्थात् अहिंसा ही जगत् की माता है क्योंकि वह समस्त जीवों का परिपालन करती है । अहिंसा ही आनन्द का मार्ग है । अहिंसा ही उत्तमगति है और शाश्वती, यानी कभी क्षय न होने वाली लक्ष्मी है । इस प्रकार, जगत् में जितने उत्तमोत्तम गुण हैं, वे सब इस अहिंसा में समाहित हैं ।

इसीलिए तो ‘अमितगति श्रावकाचार’ (११/५) में कहा गया है कि जो एक जीव की रक्षा करता है, उसकी बराबरी पर्वतों सहित स्वर्णमयी पृथ्वी को दान करने वाला भी नहीं कर सकता । ‘भावपाटुङ्ग’ (टी० १३४/२८३) में तो अहिंसा को सर्वार्थदायिनी चिन्तामणि की उपमा दी गई है । चिन्तामणि जिस प्रकार सभी प्रकार के अर्थ की सिद्धि प्रदान करती है, उसी प्रकार जीवदया के द्वारा सकल धार्मिक क्रियाओं के फल की प्राप्ति हो जाती है । इतना ही नहीं, आयुष्य, सोमाय्य, धन, सुन्दर रूप, कीर्ति आदि सब कुछ एक अहिंसाव्रत के माहात्म्य से ही प्राप्त हो जाते हैं । इस प्रकार जैनशास्त्र में अहिंसा की प्रचुर महत्ता का वर्णन उपलब्ध होता है, जिसका सारतत्त्व यही है कि अहिंसाव्रत के पालन के निमित्त भावशुद्धि और आत्मशुद्धि के बिना राग द्वेष और प्रमाद का विनाश सम्भव नहीं है, अथवा इन दोनों के विनाश के बिना अहिंसाव्रत का पालन असम्भव है ।

जैनशास्त्र में हिंसा के चार प्रकार माने गये हैं—संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी और विरोधी । अकारण संकल्पजन्य प्रमाद से की जाने वाली हिंसा संकल्पी है । भोजन आदि बनाने, घर की सफाई आदि करने जैसे घरेलू कार्यों में होने वाली हिंसा आरम्भी है, जिसकी तुलना ब्राह्मण-परम्परा की स्मृति में वर्णित पंचसूचना दोष से की जा सकती है । अर्थ कमाने के निमित्त किये जाने वाले व्यापार-धन्धे में होने वाली हिंसा उद्योगी है और अपने आश्रितों अथवा देश की रक्षा के लिए युद्ध आदि में की जाने वाली हिंसा विरोधी है । इन चार प्रकार की हिंसाओं में सर्वाधिक खतरनाक संकल्पी

हिंसा है। यही हिंसा शेष तीन प्रकार की हिंसाओं का मूल कारण है। संकल्पी हिंसा का मन में उत्पन्न होना ही मीषण से मीषणतर नरसंहार की घटनाओं का कारण बन जाता है। मनुष्य के मन में जब हिंसा का संकल्प उदित होता है, तब वह निरन्तर अप्रशस्त ध्यान यानी आर्त्तध्यान और रौद्रध्यान में रहता है। रौद्रध्यानी या आर्त्तध्यानी मनुष्य सदैव असत्य का आश्रय लेता है और असत्य वचन बोलने वाला निश्चित रूप से हिंसक होता है।

जैन शास्त्र में सत्य और असत्य के परिप्रेक्ष्य में हिंसा और अहिंसा पर भी बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। जैसा हुआ हो, वैसा ही कहना, अर्थात् यथाकथन ही सत्यकथन का सामान्य लक्षण है। “महाभारत” में व्यासदेव ने कहा है : ‘यल्लोकहितत्यन्तं तत्सत्यमिति नः श्रुतम् ।’ इसका तात्पर्य है, जो अधिक से अधिक लोकहित-साधक है, वही सत्य है। स्पष्ट है कि लोक का हित अहिंसा से और उसका अहित हिंसा से जुड़ा हुआ है।

अध्यात्ममार्ग में ‘स्व’ और ‘पर’ दोनों के लिए अहिंसा अनिवार्य है। आत्मगत या परगत रूप में अहिंसा-धर्म के पालन के क्रम में सत्यकथन के निमित्त वचनगुप्ति, अर्थात् हित और मितवचन का प्रयोग आवश्यक होता है और यही हित और मितवचन सत्यवचन होता है। कभी-कभी ऐसी स्थिति भी आ जाती है कि अहिंसा के लिए ‘कथंचित् असत्य’ भी बोलना पड़ता है। और, नीतिकारों का कथन है कि ‘प्रिय सत्य’ बोलना चाहिए, ‘अप्रिय सत्य’ नहीं। तो, यह एक प्रकार की द्विविधा की स्थिति हो जाती है। किन्तु, जो ज्ञानी या मोहरहित पुरुष होते हैं, वे इस द्विविधा की स्थिति को बड़ी निपुणता से सम्भाल लेते हैं।

एक कहानी है कि एक बार, व्याध के बाण से आहत मृग आत्मरक्षा के लिए किसी मुनि के आश्रम में जाकर छिप गया। व्याध, उसका पीछा करता हुआ आश्रम में पहुँचा और मुनि से उसने पूछा कि आपने मेरे शिकार (मृग) को देखा है। मुनि अपने मन में सोचने लगे : ‘यदि मैं सच कह देता हूँ, तो एक निरीह जीव की हिंसा हो जायगी और झूठ बोलता हूँ, तो मिथ्याभाषण का दोषी हो जाऊँगा। अन्त में यथार्थ कथन की एक युक्ति निकाली और व्याध से कहा :

यः पश्यति न स ब्रूते यो ब्रूते स न पश्यति ।

अहो व्याध स्वकार्याथिन् किं पृच्छसि पुनः पुनः ॥

अर्थात्, जो (नेत्र) देखता है, वह बोलता नहीं और जो (मुख) बोलता है, वह देखता नहीं। इसलिए, अपने मतलब साधने वाला व्याध ! तू (मुझसे) बार-बार क्या पूछता है ?

मुनि की बात सुनकर व्याध वहाँ से खिसक गया और इस प्रकार एक प्राणी की हिंसा होते-होते भी नहीं हुई। तो, सत्य और असत्य-भाषण की द्विविधात्मक स्थिति में भी युक्तिपूर्वक सत्य का पालन करना प्रत्येक सुज्ञान व्यक्ति के लिए अपेक्षित है।

प्रसिद्ध जैनानुशासन ग्रन्थ ‘बारसअणुवेक्खा’ की गाथा सं० ७४ में लिखा है : ‘जो मुनि दूसरे को क्लेश पहुँचानेवाले वचनों का त्याग कर अपने और दूसरे का हित करने वाला वचन बोलता है, वह सत्य धर्म का पालक होता है।’

यों सत्य की परिभाषाएँ अनेक हैं। किन्तु, मोटे तौर पर असत्य के विरुद्ध वाणी के समस्त प्रकार का प्रयोग असत्य है। जैनानुशासन ग्रन्थ ‘पंचविंशतिका’ में कहा गया है कि मुनियों को सदैव स्वचरहितकारक परिमित तथा अमृत सदृश सत्यवचन बोलना चाहिए। यदि कदाचित् सत्य वचन बोलने में बाधा प्रतीत हो, तो मौन रह जाना चाहिए। स्थूल सत्यव्रत तो यह है कि राग और द्वेष से विवश होकर असत्य नहीं बोलना चाहिए और सत्य भी हो, लेकिन प्राणिहिंसक हो, तो उसे भी नहीं बोलना चाहिए।

अनेकान्तवादी जैनदार्शनिकों की दृष्टि में विशुद्ध सत्य कुछ भी नहीं होता। अपेक्षया सत्य भी असत्य होता है और अपेक्षया असत्य भी सत्य होता है अर्थात् एक ही वस्तु अपेक्षया सत्य और अपेक्षया असत्य भी हो सकता है।

उदाहरण के लिए, कोई सच्ची किन्तु कड़वी बात किसी से कह दी गई और उससे उसके हृदय को चोट पहुँची, तो उक्त सच्ची बात अपनी यथार्थता की अपेक्षा से सच्ची (अहिंसाकारक) होते हुए भी कहने की अपेक्षा से झूठी (हिंसाकारक) बन गई। शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से 'पंकज' का सामान्य लोकलुब्ध अर्थ है कमल। किन्तु कमल केवल पंक से ही तो नहीं उत्पन्न होता, अपितु उसके लिए पंचभूत के सम्मिलित प्रभाव की अपेक्षा होती है। इस प्रकार कमल को 'पंकज' कहना लोकलुब्धि की अपेक्षा से सत्य होते हुए भी पाँचभौतिक प्रभाव की अपेक्षा से असत्य है। इसलिए जैनदृष्टि किसी भी वस्तु को केवल सत्य न मानकर उसे सत्यासत्य या उभयात्मक या अनेकान्तात्मक मानती है। स्पष्ट है कि हिंसा की अपेक्षा से सत्य भी अग्राह्य है और अहिंसा की अपेक्षा से असत्य भी ग्राह्य है। और यही तब व्यास की पूर्वोद्धृत उक्ति चरितार्थ होती है कि 'यल्लोकहितमत्यन्तं तत्सत्यमिति नःश्रुतम्।' अर्थात्, अधिकाधिक लोकहित ही, चाहे वह जिस किसी प्रकार से हो, सत्य है।

महाभारत-युद्ध में युधिष्ठिर के द्वारा भंग्यन्तर से कही गई उक्ति, 'अश्वत्थामा हतः कुञ्जरो वा नरो वा' असत्यगन्धी होते हुए भी लोकहित की दृष्टि से असत्य नहीं थी। युधिष्ठिर के लिये आत्महित की अपेक्षा से उनकी युक्ति यदि असत्य (हिंसक) थी, तो व्यापक लोकहित की अपेक्षा से सत्य (अहिंसक) थी। अपने पुत्र अश्वत्थामा की मृत्यु-सूचना से, चाहे वह गलत ही थी, द्रोणाचार्य शोकाहत हुए और उनके द्वारा की जाने वाली भीषण विरोधी प्राणिहिंसा में शोक-शीथिल्यवश सहज ही न्यूनता आ गई, जो लोकहित या युद्धशान्ति के प्रयास के रूप में ही मूल्यांकित हुई।

प्राचीन युग में सत्य और अहिंसा के बहुत बड़े प्रवक्ता भगवान् महावीर हुए और अर्वाचीन युग में महात्मा गान्धी ने भगवान् महावीर के सत्य और अहिंसा की प्रासंगिकता को लोकतांत्रिक दृष्टि से अधिक-से-अधिक विकासात्मक व्याख्या की। दोनों ही महात्मा इस बिन्दु पर एकमत दिखाई पड़ते हैं कि अहितकारी सत्य भी असत्य और हितकारी असत्य भी सत्य है। उदाहरण के लिए, अगर किसी रोगी की हालत बिगड़ने लगती है, तो डॉक्टर हितभावना से उसको तसल्ली के लिए, उसके हृदय को मृत्यु के आतंक से बचाने के लिए उसके ठीक हो जाने का झूठा अश्वासन देता है। यह हितकारी होने के कारण असत्य होते हुए भी सत्य ही है। ठीक इसके विपरीत रोग की भीषणता की सत्य बात कहकर रोगी को आतंकित करने वाला व्यक्ति सत्य बोलते हुए भी अहितकारी होने के कारण असत्य या हिंसक वाणी बोलता है। इसी सन्दर्भ में 'लाटोसंहिता' में जिन-वचन का उल्लेख प्राप्त होता है :

सत्यमपि असत्यतां याति क्वचिद् हिंसानुबन्धतः।

असत्यं सत्यतां याति क्वचिद् जीवस्य रक्षणात्॥

अर्थात्, जिस बात से जीवहिंसा सम्भव हो, वह सत्य होकर भी असत्य हो जाता है। इसी प्रकार, क्वचित् जीवों की रक्षा होने से असत्य वचन भी सत्य हो जाता है।

'अनगारधर्मावृत्त' में इसी सिद्धान्त का समर्थन किया है :

सत्यं प्रियं हितं चाहुः सूनृतं सुनृतव्रता।

तत्सत्यमपि नो सत्यमप्रियं चाहितं च यत्॥

जो वचन प्रशस्त, कल्याणकरक, आह्लादक तथा उपकारी हो, ऐसे वचन को सत्यव्रत पुरुषों ने सत्य कहा है, किन्तु वह वाणी सत्य होकर भी सत्य नहीं है, जो प्रिय और अहितकर, अर्थात् हिंसक है।

जैनधर्म की अहिंसा की यह व्याख्या अतिशय व्यावहारिक होने के कारण वर्तमान सन्दर्भ में भी अपना ततोऽधिक मूल्य रखती है।

